International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493
Received: 30-05-2021, Accepted: 15-06-2021, Published: 30-06-2021
Volume 3, Issue 2, 2021, Page No. 49-55

हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि

डॉ. आभा शर्मा
हिंदी विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश

हजारीप्रसाद द्विवेदी परम्परावादी दृष्टि के साहित्येतिहासकार हैं। द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य का निरूपण संपूर्ण भारतीय साहित्य के स्वाभाविक विकास के रूप में किया है. हिन्दी साहित्य और उसके विकास के बारे में शुक्ल जी की स्थापनाओं से उन्होंने कई आधारों पर अपना मतभेद प्रकट किया. उनकी मान्यता है कि भारतीय चिंतन और भारतीय साहित्य का सहज रूप से विकास हुआ है. इसलिए बाहरी प्रभावों को अत्यधिक महत्व देने से इसके वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा जा सकता. द्विवेदीजी ने अपनी पुस्तक में विस्तार से उन कारणों और परिस्थितियों की व्याख्या की है जिनसे हिन्दी साहित्य का विकास संभव हुआ. साहित्येतिहास-लेखन में काल-विभाजन, नामकरण और कवियों तथा उनकी रचनाओं के मूल्यांकन के बारे में द्विवेजी ने शुक्ल जी की बातों से अपनी सहमति दर्शाते हुए भी कुछ नयी खोजें की हैं. उन्होंने शुक्ल जी द्वारा किए गए नामकरण, 'आदिकाल' और 'भक्तिकाव्य' के मूल्यांकन आदि की दृष्टि से अपनी असहमति व्यक्त की और अपनी नयी मान्यताएँ प्रस्तुत कीं.

मूलशब्द: सहित्येतिहास लेखन, भक्ति-आंदोलन, लोकतत्व, काल-विभाजन, नामकरण

प्रस्तावना

रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में एक मील का पत्थर माना जाता है. परिमाण और गुणवत्ता दोनों ही दृष्टियों से उनका 'हिंदी साहित्य का इतिहास' अपने पूर्ववर्तियों के इतिहासलेखन सम्बंधी प्रयासों की तुलना में बहुत उन्नत, संतुलित और विकसित दृष्टिकोण का परिचय देता है. उनके बाद भी अनेक इतिहास लिखे गए हैं पर उनके परवर्ती इतिहासकारों में इस दृष्टि से हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है. शुक्ल जी के इतिहास-ग्रंथ के प्रकाशन के बाद लगभग हर वर्ष एक इतिहास-ग्रंथ प्रकाशित हुआ है, लेकिन कोई भी ग्रंथ शुक्ल जी के इतिहास की ऊँचाई को नहीं स्पर्श कर पाया. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य किया है. द्विवेदीजी की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', सन् 1940 प्रकाशित हुई. और 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', सन् 1952 में. लेकिन साहित्य के इतिहास लेखन की दृष्टि से 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' सर्वाधिक माहत्वपूर्ण पुस्तक है. 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में उन्होंने साहित्य को भारतीय साहित्य की प्राणधारा के रूप में देखा है. वे लिखते हैं,

> "आज से लगभग हज़ार वर्ष पहले हिंदी साहित्य बनना शुरू हुआ था. इन हज़ार वर्षों में

भारतवर्ष का हिंदी भाषी जन-समुदाय क्या सोच-समझ रहा था, इस बात की जानकारी का एकमात्र साधन हिंदी साहित्य ही है. कम से कम भारत वर्ष के आधे हिस्से की सहस्त्रवर्ष व्यापी आशा-आकांक्षाओं का मूर्तिमान प्रतीक यह हिंदी साहित्य अपने आप में एक ऐसी शक्तिशाली वस्तु है कि इसकी उपेक्षा भारतीय विचारधारा के समझने में घातक सिद्ध होगी."[1]

अपनी बात को आगे बढ़ते हुए उन्होंने लिखा है,

"ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाये"[2]

मूल पुस्तक में बार-बार संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की चर्चा आयी है. बौद्ध धर्म के साथ-साथ नाथों और सिद्धों के साहित्य पर भी विस्तार से लिखा गया है. वस्तुतः द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास दिखाते हुए साहित्य की अपनी स्वाभाविक प्रकृति की पहचान पर जोर दिया और बाहरी प्रभावों को अत्यधिक महत्व देने का विरोध किया. कहना न होगा कि द्विवेदी जी निश्चित ही इस ग्रंथ द्वारा एक नया ऐतिहासिक दृष्टिकोण तथा पद्धति लेकर आये. नामवर सिंह के अनुसार,

"हिन्दी साहित्य की भूमिका' ऐसे ही समय नवीन युग की भूमिका बनकर प्रकाश में आयी. पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी इतिहास-प्रणाली के स्थान पर सामाजिक अथवा जातीय ऐतिहासिक-प्रणाली का आरम्भ करने वाली यह पहली हिन्दी पुस्तक है. अनेक साहित्यकारों का वैयक्तिक परिचय देने का मोह छोड़कर इस पुस्तक ने हिन्दी साहित्य के विराट पुरूष और उसके सामूहिक प्रभाव तथा साहित्यिक इतिहास के माध्यम से युग-युगांतर के माध्यम से आती हुई अबाध हिन्दी जाति की विचार सरणी और भाव-परम्परा का दर्शन कराया."[3]

द्विवेदी जी का महत्व तब और बढ़ जाता है जब हमें पता चलता है कि 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक उनका ग्रंथ 'हिन्दी जाति' की संस्कृति के उद्घाटन का माध्यम बनकर आया और उसने साहित्य को समस्त सांस्कृतिक इतिहास के प्रकाश में देखने का प्रयास किया. साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में उल्लेखनीय योगदान करते हुए हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास)', सन् 1952 ई॰ लिखकर हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की परंपरा को आगे बढ़ाया. हिंदी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) नामक पुस्तक के निवेदन में हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है,

"इस पुस्तक में हिंदी साहित्य के उद्भव और विकास का संक्षिप्त विवेचन किया गया है. पुस्तक विद्यार्थियों को दृष्टि में रखकर लिखी गयी है. प्रयत्न किया गया है कि यथा सम्भव सुबोध भाषा में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके महत्वपूर्ण वाह्यरूपों के मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय दे दिया जाए."[4]

द्विवेदी जी हिंदी साहित्य के अपने इतिहास-ग्रंथ की भूमिका में इतिहास लिखने के उद्धेश्य को परिभाषित करने का प्रयास कर रहे हैं. रामचंद्र शुक्ल की भाँति वे भी कह रहे हैं कि ‘पुस्तक विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर लिखी गयी है’ वे आगे लिखते हैं,

> “पुस्तक को संक्षिप्त रूप देते समय ध्यान रखा गया है कि मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन छूटने न पाए और विद्यार्थी अद्यावधिक शोध-कार्यों के परिणाम से अपरिचित न रह जाएँ.”[5]

स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने अपना ध्यान साहित्य के विद्यार्थी से नहीं हटने दिया. शायद इसीलिए ‘हिंदी साहित्य’ की सम्पूर्ण रूपरेखा इसी अवधारणा के आधार पर विकसित की गयी है. हालाँकि इस पुस्तक की रचना से पहले हज़ारीप्रसाद द्विवेदी अपने सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ ‘हिंदी साहित्य की भूमिका’ की रचना कर चुके थे.

द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य का निरूपण संपूर्ण भारतीय साहित्य के स्वाभाविक विकास के रूप में किया है. हिन्दी साहित्य और उसके विकास के बारे में शुक्ल जी की स्थापनाओं से उन्होंने कई आधारों पर अपना मतभेद प्रकट किया. उनकी मान्यता है कि भारतीय चिंतन और भारतीय साहित्य का सहज रूप से विकास हुआ है. इसलिए बाहरी प्रभावों को अत्यधिक महत्व देने से इसके वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा जा सकता. द्विवेदीजी ने अपनी पुस्तक में विस्तार से उन कारणों और परिस्थितियों की व्याख्या की है जिनसे हिन्दी साहित्य का विकास संभव हुआ. इस संदर्भ में उन्होंने शुक्ल जी की इस बात से असहमति जाहिर की है कि भक्ति-आन्दोलन मुसलमानों के आक्रमणों के फलस्वरूप हिन्दू जाति की हताशा और निराशा का परिणाम है उन्होंने विदेशी प्रभाव को अत्यधिक महत्व देने वाले विचारों का खंडन किया और हिन्दी साहित्य की परम्परा का मूल्यांकन किया. वे लिखते हैं,

> “दुर्भाग्यवश, हिंदी साहित्य के अध्ययन और लोक-चक्षु-गोचर करने का भार जिन विद्वानों ने पने ऊपर लिया है, वे भी हिंदी साहित्य का सम्बंध हिंदू जाति के साथ ही अधिक बतलाते हैं और इस प्रकार अनजान आदमी को दो ढंग से सोचने का मौक़ा देते हैं - एक यह कि हिंदी साहित्य एक हतदर्प पराजित जाति की सम्पत्ति है, इसलिए इसका महत्व उस जाति के राजनीतिक उत्थान-पतन के साथ अंगांगीभाव से सम्बद्ध है, और दूसरा यह कि ऐसा ना भी हो तो भी वह एक निरंतर पतनशील जाति की चिंताओं का मूर्त प्रतीक है, जो अपने आप में कोई विशेष महत्व नहीं रखता.”[6]

मुसलमानों के भारत में आगमन को भक्ति आंदोलन के उदय का कारण मानने वाले विचारों के प्रति असहमति व्यक्त करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं,

> “दस सौ वर्षों तक दस करोड़ कुचले हुए मनुष्यों की बात भी मानवता की प्रगति के अनुसंधान के लिए केवल अनुपेक्षणीय ही नहीं बल्कि अवश्य ज्ञातव्य वस्तु है. ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूँ लेकिन ज़ोर देकर

> कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है."[7]

वस्तुतः द्विवेदी जी ने एक ओर तो भारतीय चिंतन के विकास पर बल दिया और उसके विस्तृत विवेचन द्वारा स्थापित आलोचक रामचंद्र शुक्ल के विचारों का अप्रत्यक्ष विरोध किया. हालाँकि इतिहास का उनका ढाँचा शुक्ल जी के इतिहास साम्बंधी दृष्टिकोण से पूरा भिन्न नहीं हो पाया है, जैसा कि रामविलास शर्मा ने उनके बारे में लिखा है.

> "इधर एक ताज़ा इतिहास शुक्ल जी की ही अध्यापन भूमि में कार्य करने वाले विद्वान विचारक और अनुसंधानकर्ता आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है. जो लोग शुक्ल जी को विवेकपूर्ण न मानते हों, वे कृपया द्विवेदी जी के इतिहास का ढाँचा और विषयवस्तु देखें और इस बात पर विचार करें द्विवेदी जी जैसे विद्वान ने भी शुक्ल जी की ही व्यवस्था स्वीकार की है या नहीं. आदिकाल से लेकर छायावाद तक द्विवेदी जी ने इन्हीं धाराओं के हिसाब से इतिहास लिखा है जिनका विवेचन शुक्ल जी ने किया था."[8]

रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य में लोकमंगल की साधना पर विशेष बल दिया. साहित्य में उन्होंने लोकतत्वों की अभिव्यक्ति पर भी विशेष ज़ोर दिया. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जी की दृष्टि भी लोकतत्वों को विशिष्ट महत्व देती है. साहित्य में मानवतावादी दृष्टि का परिचय देते हैं. साथ ही साहित्य को उसकी स्वाभाविक विकास की स्थिति में देखनेपर वे जोर देते हैं और इस सन्दर्भ में निर्गुणमार्गी कवियों - कबीर आदि संतों के विचारों को अभारतीय अथवा लोकविरोधी मानने का विरोध करते हैं. 'कबीर' पुस्तक लिखकर द्विवेदी जी ने कबीरदास को महान कवि सिद्ध किया और उनकी साधना के विविध पक्षों का उद्घाटन किया. उनका यह कार्य कबीर को हिंदी के पाठकों के बीच उनका वास्तविक स्थान दिलाता है. प्राचीन शास्त्रों के उद्धरण देते हुए उन्हांने कबीर के विषय में लिखा है,

> "जहाँ तक उनकी उपासना पद्धति, विषय, भाव, भाषा, अलंकार, छंद, पद आदि का सम्बन्ध है सौ फीसदी भारतीय परम्परा के पड़ते हैं. उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़िविरोधिता, उनकी खंडनात्मक प्रवृत्ति और उनकी अखंडता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन हैं."[9]

इस प्रकार कबीर को उन्होंने प्रमुख मध्यकालीन संतों में स्थान पाने का अधिकारी बताया. शुक्ल जी के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने ने सिद्धों और संतों को लोकविरोधी कहा था. द्विवेदी जी इससे अपनी असहमति व्यक्त करते हैं. वास्तव में तो उनका विस्तृत मूल्यांकन करके द्विवेदी जी ने उनकी साधना को लोकोन्मुखी बताया और हिन्दी साहित्य की परम्परा में रखकर उनका विवेचन किया. वे लिखते हैं,

> "अपभ्रंश साहित्य की आलोचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है की चारण कवियों की वीर-गाथाएँ पुरानी परंपरा के अनुसार ही थीं. इस विषय में कोई मतभेद नहीं है. पर निर्गुणियाँ संतों की वाणी के विषय में काफ़ी भ्रम फैला

> हुआ है. यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि कबीर ही निर्गुण मत के आदि प्रतिष्ठाता थे. उनका जन्म मुसलमान वंश में हुआ था, ऐसा प्रवाद है. कुछ लोगों का कहना है कि उनका जन्म तो हिंदू घर में हुआ था पर लालन-पालन मुसलमान घर में."[10]

कहने का आशय यह है कि कबीर पर मुसलमानी प्रभाव बहुत कम था. 'भले ही उनका मुसलमानी वातावरण में बड़ा होना निश्चित माना जाता है'. शायद इसी कारण 'उनकी रचनाओं में मुसलमानी भाव की साधना की गंध मिलती है'. कहना न होगा कि हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन करते हुए द्विवेदी जी ने उसको परम्परा के साथ देखा-परखा और उसके स्वाभाविक विकास की विस्तार से व्याख्या की. 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में उन्होंने हिन्दी साहित्य की शुरूआत दिखाते हुए तत्कालीन रचनाओं की गहरी छानबीन की तथा आदिकाल के नाथों और सिद्धों की साधना को महत्वपूर्ण माना. द्विवेदी जी की दोनों ही पुस्तकों में हिन्दी साहित्य की परम्परा के मूल्यांकन पर विशेष जोर दिया गया है. 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में वे लिखते हैं,

> "यदि कबीर आदि निर्गुणमतवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि वह संपूर्णत: भारतीय है और बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बंध है. वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थीं. क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं."[11] इसीलिए संकेत करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं, "परम्परा के इतने विराट परिदृश्य में हिन्दी साहित्य को रखकर देखने का यह पहला प्रयत्न था"[12]

वस्तुतः साहित्येतिहास-लेखन में काल-विभाजन, नामकरण और कवियों तथा उनकी रचनाओं के मूल्यांकन के बारे में द्विवेजी ने शुक्ल जी की बातों से अपनी सहमति दर्शाते हुए भी कुछ नयी खोजें की हैं. उन्होंने शुक्ल जी द्वारा किए गए नामकरण, 'आदिकाल' और 'भक्तिकाव्य' के मूल्यांकन आदि की दृष्टि से अपनी असहमति व्यक्त की और अपनी नयी मान्यताएँ प्रस्तुत कीं. 'आदिकाल' का नाम उन्होंने 'वीरगाथाकाल' रखे जाने का विरोध किया और इसे 'आदिकाल' कहना अधिक उचित बताया. इसी प्रकार नाथों, सिद्धों और इनसे जुड़े भक्त-कवियों के साहित्य का मूल्यांकन करते हुए शुक्ल जी की स्थापनाओं से असहमति व्यक्त की. हाँ, रीतिकाल के मूल्यांकन के बारे में उन्होंने शुक्ल जी की परम्परा का विकास ही किया. उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में मध्यकाल के साहित्य का काफी विस्तार से मूल्यांकन किया. आदिकाल की रचनाओं के मूल्यांकन और इस साहित्य के अध्ययन को जरूरी मानते हुए द्विवेदी जी ने लिखा कि "इस अन्धकार युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाये उसे सावधानी से जिला रखना हमारा कर्त्तव्य है, क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की धड़कन ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयम और सुचिन्तित वाक्पाटव का ही नहीं, बल्कि उसमें युग के

सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भाषित करने की क्षमता छिपी होती है. इस काल की कोई भी अवज्ञा और उपेक्षा का पात्र नहीं हो सकती. साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी-न-किसी महत्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की सम्भावना होती ही है"[13]

इस 'नैरंतर्य-निरूपण में समाज-साहित्यकार तथा साहित्य की परस्पर-संबद्धता, क्रमबद्धता तथा गतिशीलता ऐसे सजीव और अंगांगिभाव से निभायी गयी कि अतीत वर्तमान की चेतना बन गया'. यह भी कहा गया है कि द्विवेदी जी के इतिहास में 'सामाजिक परिस्थितियाँ घटनाओं के द्वारा सतही ढंग से वर्णित नही थीं, बल्कि सजीव सामाजिक शक्तियों के क्रियाकलापों के माध्यम से अभिव्यक्त की गयीं.' नामवर सिंह का कहना है कि इसीलिए "समाज और साहित्यकार में कार्यकारण-सम्बंध स्थापित करने में चूक नहीं हुई. उन्होंने हिन्दी साहित्य की समस्त परम्परा का मूल्यांकन करके उसके प्रगतिशील तत्वों को उजागर करने का प्रयत्न किया. संतों और भक्त-कवियों के जाति विरोधी और वर्ण-विरोधी विचारों को और स्पष्ट किया तथा अपने युग में प्रचलित सामंती जीवन-मूल्यों के प्रति विरोध प्रकट किया"[14]

अंततः स्पष्टत: कहा जा सकता है कि द्विवेजी जी ने आधुनिक काल पर उतना नहीं लिखा जितना शुक्ल जी ने. बल्कि आचार्य द्विवेदी जी ने बहुत अधिक विवरण में जाने की प्रवृत्ति से बचने का प्रयास करने का दावा किया है, लेकिन ऐसा सम्भव नहीं हो पाया. "सभी प्रमुख कवियों के विषय में आवश्यक विवरण और नव्यतम अनुसंधानों के परिणाम देने के प्रयास में बहुत अंशों में, हिन्दी साहित्य का यह इतिहास भी, अपनी पूर्वोक्त विशेषता के बावजूद, विवरण-प्रधान बन गया है. यह ठीक है कि आचार्य शुक्ल की तरह द्विवेदी जी ने साहित्य को अपने द्वारा बनाये गये सांचे में जकड़बन्द करने की चेष्टा नहीं की है, न उसे किसी अति-सरलीकृत परिपार्श्विक योजना में बिठाने की आवश्यकता समझी है. तत्वतः शुक्लेतर पद्धति अपनाये हुए भी बहुधा बनी-बनायी गहरी लीक पर चल पड़े हैं"[15]

उल्लेखनीय है कि द्विवेदी जी और शुक्ल जी की इतिहास-दृष्टियों में कुछ बातों को लेकर समानता होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है. द्विवेदी जी ने शुक्ल जी से इतर परम्परा का विकास किया है. डॉ॰ नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'दूसरी परम्परा की खोज' में द्विवेदी जी की मान्यताओं का विस्तृत मूल्यांकन किया है और द्विवेदी जी के महत्व को स्थापित किया है.

संदर्भ सूची

1. द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिंदी साहित्य (उसका उद्भव और विकास), यू.सी.कपूर एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ, 13.
2. द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ, 5.
3. सिंह, नामवर, इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ, 138.
4. द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिंदी साहित्य (उसका उद्भव और विकास), यू.सी.कपूर एंड संस, दिल्ली, निवेदन
5. वही, निवेदन.
6. द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ, 13.

7. वही, 13.
8. शर्मा, रामविलास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 186.
9. द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, कबीर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 49.
10. द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ, 39.
11. वही, 40.
12. सिंह, नामवर, इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ, 138.
13. द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिंदी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पृष्ठ, 27.
14. सिंह, नामवर, इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ, 139.
15. शर्मा, नलिनविलोचन, हिंदी साहित्य का इतिहास दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृष्ठ, 95.